

समकालीन हिन्दी कहानी में आदिवासी चेतना

सरस्वती कुमारी मीना

पीएच.डी शोधार्थी (हिन्दी विभाग)

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - 110007

समकालीनता सतत वर्तमान को व्यंजित करने वाली कालधर्मी संज्ञा है। अतएव समकालीन हिन्दी कहानी से अभिप्राय एक स्तर पर उस कहानी से है, जो हिन्दी में आज लिखी जा रही है और दूसरे स्तर पर उस कहानी गत-रचनाशीलता से है जो आज के परिदृश्य अथवा जीवन-स्थितियों से सम्बद्ध है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते देश में सूचना - प्रौद्योगिकी, बाजारवाद, पूंजीवाद, आंतकवाद, जातिवादी और भूमंडलीकरण का दबदबा ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों इनके किशंजों में जकड़ता गया। इसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पडा। फलतः एक तरफ व्यक्तिगत अहंवाद कमजोर पडा तो दूसरी तरफ समाज सापेक्ष नई अवधारणाएँ और नये साहित्यिक विमर्शों का बोलबाला बढा। साहित्य में नये-नये विषय क्षेत्र-दलित विमर्श, नारी विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि स्थापित हुए। वर्तमान हिन्दी साहित्य में इन विमर्शों ने खास ऐतिहासिक परिस्थिति में अपना स्थान बनाया है।

सामुदायिक विमर्श के तहत आजकल हिन्दी में अच्छा साहित्य आ रहा है। अब साहित्यिक पत्रिकाओं में ही विमर्शों की धूम नहीं रही बल्कि एकेडमिक संसार में भी स्त्री, दलित, आदिवासी, स्थानीय संस्कृति और छोटी भाषाओं के अध्ययन केन्द्र खुलने लगे। इन विमर्शों ने साहित्य के अध्ययन में नये सामाजिक पक्ष जोड़े हैं और एक नयी जान पैदा की है। इन विमर्शों ने नये सामाजिक वर्गों और क्षेत्रों से हिन्दी के नये लेखक और पाठक दिये हैं, जो विमर्श आधारित साहित्य से मानवीय आत्मसम्मान के साथ जीने की प्रेरणा पाते हैं। इन विमर्शों ने वंचित और उपक्षित समुदायों को न केवल जगाया है बल्कि उन्हें मुखर भी बनाया है। इनकी वजह से स्त्रियों में ज्यादा निकटता आई है, दलितों में भी ज्यादा निकटता आई है।

इस संबंध में डॉ. शम्भूनाथ लिखते हैं:- "आखिरकार भारत की आजादी के बाद इन लगभग 70 सालों के राष्ट्रीय विकास और जनतंत्र में 'स्त्री, दलित और आदिवासी स्थानीय संस्कृति और समुदाय इतने दब के रह गये कि 'विमर्श' के उत्तर-औपनिवेशिक मुहावरों की जरूरत पडी। राष्ट्रीय विकास और जनतंत्र इतने केन्द्रीकृत क्यों है? इतना भ्रष्टाचार कैसे पनपा? वैश्वीकरण के जमाने में उच्च पूंजीवादी दबावों के बावजूद यदि समाज में सामन्ती मिजाज बड़े पैमाने पर बचा है, विमर्श ही दवाई है। यह मिटने से पहले स्त्री, दलित, आदिवासी तथा समाज के सभी दबाये गये तबकों की वर्चस्वों पर करारी चोट आई है। उधर से दमन बढ रहा है, इधर से बौद्धिक पलट-वार भी चल रहा है। आधुनिकीकरण, संविधान और प्रशासन के भरोसे सब कुछ नहीं छोडा जा सकता है। इसलिए विमर्शों की जरूरत है, बौद्धिक पलटवार की जरूरत है।"

वही वजह है कि समाज के दबे समुदायों ने आंदोलनगत विचार धाराओं से मुँह फेरकर अतीत से चले आ रहे भेदभाव के खिलाफ सामुदायिक आवाज का रास्ता पकडा है और इस तरह साहित्य में वर्तमान समय में विमर्श की महत्ता बढती हुई नजर आ रही है। आदिवासी विमर्श आज भी साहित्यजगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए हाथ-पैर मार रहा है।

20वीं शताब्दी के अंतिम दौर में 'युद्धरत आम आदमी' ने दूसरी दुनिया का यथार्थ शीर्षक के अंतर्गत हिन्दी साहित्य में प्रतिनिधि दलित कहानियाँ विशेषांक प्रकाशित किया था। इस अंक में दलित व अन्य पिछड़े वर्ग के कहानीकारों की रचनाएं तो शामिल थी। किन्तु न तो कोई आदिवासी साहित्यकार शामिल था और न ही कोई कहानी आदिवासी पृष्ठभूमि लिए हुए थी। इस संबंध में टिप्पणी करते हुए आदिवासी कवि एवं लेखक हरिराम मीणा लिखते हैं:-

"इन तथ्यों के प्रकाश में ही पथिकबाबा ने पहल करके रमणिका जी से कुछ सवाल किये कि दलितों की बात करने वाले उन जैसे सहित्य के महारथी आदिवासीजनों के बारे में की क्यों नहीं सोचते जो समाज की मुख्यधारा से ही

नहीं, भौगोलिक दृष्टि से भी हजारों सालों से अलग - अलग पड़े हुए है। देश के विभिन्न अंचलों में उपेक्षित अवस्था में पड़े इस वंचित शोषित आदिवासी समुदाय की सुध लेने आप जैसे प्रबुद्ध साहित्यकार आगे क्यों नहीं आते? विकास के नाम पर अपनी पुश्तैनी भूमि से खदेड़े जा रहे, अपने अस्तित्व के लिए पैदा हुए घोर संकटों से जूझते हुए इन आदिवासीयों को आप जैसे साहित्यकारों की संवेदना कब हासिल होगी?

स्पष्ट है कि आदिवासीजनों के अपने ऐतिहासिक संदर्भ है, उनकी अपनी पीड़ाएं है, अपनी अपेक्षाएं है और वे भी परिवर्तन के पक्षधर है। दलित और आदिवासी समुदाय में कुछ समानताएं हो सकती है, पर असमानताएं इतनी विकट है कि उन्हें विशेष ट्रीटमेंट की जरूरत है। सुखद परिणाम यह हुआ है रमणिका गुप्ता ने सन् 2001 में 'युद्धरत आम आदमी' त्रैमासिक के दो महत्वपूर्ण विशेषांक 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी खण्ड-पू व खण्ड-पू' प्रकाशित किये। 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के आदिवासी विशेषांक के संदर्भ में समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए दुर्गा प्रसाद लिखते हैं:- "रणमिका गुप्ता की सराहना की जाना चाहिए कि उन्होंने इस दृष्टि से स्वयं को बचाते हुए जनवादी दृष्टि से आदिवासीयों के जीवन और समाज के दुःख-दर्द, हर्ष-उल्लास, इतिहास, संस्कृति और संघर्ष को समझने की ईमानदार कोशिश की है। इस समझ के अभाव में जिन्दगी और साहित्य दोनों भार बन जाते है। युद्धरत आम आदमी ने आदिवासी जीवन और साहित्य को भार बनने से बचाया है और नई शताब्दी में आदिवासी स्वर की स्वाभाविकता और सहजता को सृजनात्मक संदर्भों के साथ प्रस्तुत किया है।"

समकालीन हिन्दी कहानी में आदिवासी समाज को लेकर जो कहानियाँ लिखी गई है, उनमें जहाँ एक तरफ विकास की प्रक्रिया से टकराते आदिवासी समाज के जीवन संघर्ष का चित्रण है तो दूसरी तरफ स्त्री जीवन की मार्मिकता ओर उससे उत्पन्न उनके विडम्बनापूर्ण जीवन का यथार्थ रूप, जो इस बात की ओर संकेत करता है कि खुले समाज में होने के बाद भी आदिवासी स्त्रियाँ अपने ही समाज में शोषित और उत्पीडित है। आज भी आदिवासी समुदाय के लोगो पर तरह-तरह के जुल्म ढाये जा रहे है।

संजीव की कहानी 'प्रेतमुक्ति' हमें आदिवासी जीवन के इसी सत्य से परिचित कराती है। कहानी में संजीव ने दिखाया है कि किस प्रकार गाँव के सामंत, अपने क्षेत्र के आदिवासीयों और उन्हें दिये जाने वाले संसाधनों का अपने हित में प्रयोग कर लेते है। तथा विरोध करने वालों की अमानवीय तरीके से हत्या ।

संजीव की दूसरी कहानी 'पाँव तले दूब' आदिवासी जीवन और उनकी संस्कृति का चित्रण करने के साथ-साथ यह भी दिखलाती है कि किन कारणों से आदिवासी समाज ने नई सभ्यता और संस्कृति के दमन से तंग आकर संघर्ष का रास्ता अपनाया है। इस कहानी में आदिवासी समाज का संघर्ष दो समानान्तर धाराओं में होता दिखलाई पडता है- पहला आदिवासी समाज के अंदर का विरोधात्मक संघर्ष और दूसरा अपने अधिकारों के लिए देश की प्रशासनिक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष।

कोमल द्वारा लिखित 'पहचान' कहानी आदिवासी जनजाति का भयानक दर्द सामने लाती हैं जिसे पढकर पाठक का मन सुन्न हो जाता है। कहानी में एक मुखिया जिसके पास एक आदिवासी युवती जाति का प्रमाण-पत्र बनवाने के लिए आवेदन पत्र लेकर जाती है। मुखिया उसे नीचे से ऊपर देखकर उसका नाम पूछता है। आदिवासी युवती अपना नाम 'सोनिया टोप्पो' बताती है। तब उस पर मुखिया अगला सवाल करता है कि तुम पढती हो, तब वह कहती है कि मैं इंटर में पढती हूँ, तब वह उसे घूरकर देखता और कहता है कि तुम तो आदिवासी नहीं लगती और तुम्हारा नाम भी आदिवासी जैसा नहीं है। आदिवासी लडकियों के नाम तो "एतवारी," सुरजी" आदि हुआ करते है।

पीटर पाल एक्का विरचित कहानी 'राजकुमारों के देश में, विस्थापन के दर्द के साथ-साथ गाँव की तिकडमबाजी, चौकडी-मुखिया, ठेकेदार, सरपंच और पुलिस के कारनामों, नंगेपन को बेनकाब करती है, जिसके द्वारा भोली-भाली मासूम आदिवासी लडकियां व औरते बलात्कार की आग में ज्वालेक दी जाती है।

डॉ. मंजू ज्योत्सना की कहानी 'प्रायश्चित' में आदिवासी समाज की औरतों का संवेदनशील रूप दिखाई देता है।

आदिवासी कहानी साहित्य को देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदिवासी समुदाय अपनी भूमि से जुड़ा होता है, वैसे ही वह अपनी संस्कृति तथा अपनी श्रद्धा के साथ भी जुड़ा होता है। हमारा सभ्य समाज इसे अंध-श्रद्धा मानता है। पर वह उनकी दृष्टि में श्रद्धा है। विकास की अज्ञानता ने उन्हें आज भी पिछड़ा रखा है आदिवासी जीवन की विविधता, उनकी संस्कृति, लोकजीवन, उनका नक्सलवाद में शामिल होना, शामिल न होते हुए भी नक्सलवादी घोषित कर अन्याय करना, स्त्री शिक्षण, अशिक्षा, औद्योगीकरण तथा समस्या आदि को कहानी साहित्य सृजन की प्रेरणा मानता है इसी प्रेरणा के फलस्वरूप सभी विधाओं में आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है।

आज आवश्यकता है कि आदिवासी समाज के सर्वस्व पर सवाल उठाने की। कथा-साहित्य द्वारा उठाये गये सवाल ही आने वाले काल में उनके प्रश्नों के उत्तर में परिवर्तित होकर उनके जीवन की सुनहरी जनचेतना बन सकते हैं।

संदर्भ सूची:-

1. समकालीन हिन्दी कहानी सरोकार और विमर्श-श्यामसुन्दर पाण्डेय
2. अरावली उद्घोष-बी.पी.वर्मा, 'पथिक'
3. हंस-राजेन्द्र यादव
4. कोमल-'पहचान' कहानी, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता